कश्मीरशैवदर्शनग्रन्थमालायाः प्रथमं पुष्पम्

आचार्य क्षेमराजकृता

पराप्रावेशिका

व्याख्याता

स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती वेदान्ताचार्य

एम० फिल (कश्मीरी शैवदर्शन अनुसंधिसु)
संस्कृत विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय
श्रीनगर (कश्मीर)

श्री दक्षिणामूर्ति मठ, मिश्रपोखरा
वाराणसी २२१०१०

कश्मीरशैवदर्शनग्रन्थमालायाः प्रथमं पुष्पम्

आचार्य क्षेमराजकृता

पराप्रावेशिका

व्याख्याता

स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती वेदान्ताचार्य

एम० फिल (कश्मीरी शैवदर्शन अनुसंधिसु)

संस्कृत विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय

श्रीनगर (कश्मीर)

श्री दक्षिणामूर्ति मठ, मिश्रपोखरा

वाराणसी २२१०१०

प्रकाशक :—

स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती

संस्कृत विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय

श्रीनगर (कश्मीर) १९०००६

पुस्तक प्राप्ति स्थान

श्री दक्षिणामूर्ति मठ,

मिश्रपोखरा, वाराणसी

प्रथमावृत्तिः सं० २०४२ खैस्ताब्दः १९८६

आवृत्तिसंख्या : १०००

मूल्य : ५-००

मुद्रक

देववाणी प्रेस

स्टेशन रोड, मलदहिया वाराणसी

महामण्डलेश्वर स्वामी श्री १००८ महेशानन्दगिरिजी महाराज की

शुभाशंसा

श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती ने पराप्रावेशिका का हिन्दी भाषान्तर समुपस्थित करके शैव जगत् का महान् उपकार किया है। अद्वैत सम्प्रदाय की प्रत्यभिज्ञाधारा उपासकों को परम् उपयोगी है। प्रामाणिक विद्वान् स्वानुभूति के आधार पर इसको प्रत्युपस्थापित करें इससे अधिक उपकार दूसरा हो ही नहीं सकता। स्वामी जी ने यह अभिनन्दनीय कार्य करने का प्रयत्न करके हमें आनन्दित किया है। हम श्री दक्षिणा मूर्ति से प्रार्थना करते हैं कि स्वामी जी स्वास्थ्यपूर्ण जीवन दीर्घकाल तक व्यतीत करते हुए शैव जगत् को इसी प्रकार की उत्कृष्ट कृतियों का रसास्वादन कराने में समर्थ रहें। उनको हमारा हार्दिक आशीर्वाद है।

महेशानन्दगिरि
दक्षिणामूर्तिमठ
मिश्र पोखरा
वाराणसी

भूमिका

आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्यों में क्षेमराज मुख्य ग्रन्थकार एवं टीकाकार हुए हैं। मधुराज ने अपने ध्यानश्लोक में क्षेमराज को अभिनव गुप्त का प्रधान शिष्य बताया है। अभिनवगुप्त का जन्मकाल ९५० ई० और ९६० ई० के मध्य माना जा सकता है। यह अनुमान उन्हीं के लिए हुए दोस्तोत्रों के लेखनकाल से किया गया है। एक 'क्रमस्तोत्र' है, जो सप्तर्षि संबत् ४०९६, (९९० ई०) में लिखा गया है। तथा दूसरा 'भैरवस्तोत्र' जो सप्तर्षि संबत् ४०९८, (९९२ ई०) में लिखा गया है। अभिनवगुप्त की आदि और अन्तिम रचनाओं के लेखनकाल को दृष्टि में रख कर अनुमान किया जा सकता है कि उनका लेखनकाल सम्भवतः २५ वर्ष तक जारी रहा होगा। अर्थात् ९९०-९१ ई० से १०१४-१५ ई० तक। अभिनवगुप्त की कृति तथा विकास देख कर माना जा सकता है कि उन्होंने अपनी रचनाओं का आरम्भ ३०-३५ वर्ष की आयु से किया होगा। अतः उनकी जन्मतिथि ९५०-९६० ई० निर्धारित की गयी है। इन्हीं तिथियों के आधार पर आचार्य क्षेमराज का जन्मकाल भी निश्चित किया जा सकता है। अभिनवगुप्त के शिष्य होने के कारण क्षेमराज अभिनवगुप्त के कुछ वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए होंगे। जब कि वे कश्मीरी शैवदर्शन के गूढ़ रहस्यों को अपने गुरु के चरणों में रह कर प्राप्त किये होंगे। यदि क्षेमराज को अभिनवगुप्त के समवयस्क न माना जाय तो भी वह अपने गुरु के जन्म से कुछ वर्ष पश्चात् जन्म लिये होंगे। ऐसे बहुत से तथ्य मिले हैं जिनके आधार पर क्षेमराज का लेखन काल एकादश ई० शती के प्रथम तथा द्वितीय चतुर्थांश माना जा सकता है। अपनी रचनाओं में क्षेमराज ने अपने वंश के विषय में कुछ भी नहीं लिखा, परन्तु अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के ३७वें आह्निक में अपने पितृव्यों का उल्लेख करते हुए अपने शिष्यों की नामावली में 'क्षेम' नाम के शिष्य को प्रथम स्थान में रखा है। क्षेमराज की प्रत्येक कृति में 'पादपद्मोपजीविन्' शब्द

होने के कारण माना जा सकता है कि क्षेमराज और अभिनवगुप्त के मध्य निकटतम सम्बन्ध रहा होगा। अतः तन्त्रालोक का 'क्षेम' शब्द क्षेमराज के लिये ही प्रयुक्त हुआ होगा। पुनः 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में क्षेमराज ने अपने आप को 'क्षेम' क्षेम ही बतलाया है। इन्हीं तथ्यों के आधार पर क्षेमराज का जन्म काल ९७० से १०३० ई० तक माना जा सकता है।

क्षेमराज की रचनाएं है—

आचार्य क्षेमराज अपने समय के अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थकार एवं टीकाकार हुए थे। इस बात की पुष्टि उनके अनेक ग्रन्थों की वृत्तियों और स्वरचित मौलिक ग्रन्थों का अध्ययन करने से होती है।

आचार्य क्षेमराज के मौलिक ग्रन्थ—

१. पराप्रावेशिका—यह ग्रन्थ कश्मीर शैवदर्शन में प्रवेश पाने के लिये लघु पुस्तिका है। २. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—सूत्र तथा वृत्ति में रचित यह ग्रन्थ प्रत्यभिज्ञादर्शन को समझने के लिये अत्यन्त सुबोध एवं महत्त्वपूर्ण है। ३. टीका ग्रन्थ-स्पन्दनिर्णय—क्षेमराज ने इस टीका का निर्माण अन्य टीकाओं की अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिये किया था। अतः यह टीका अधिक विस्तृत एवं विशुद्ध है। ४. स्पन्दसन्दोह—स्पन्द कारिका की प्रथम कारिका की यह अत्यन्त विशद टीका है, जिसे क्षेमराज ने स्पन्दसिद्धान्त को विस्तार से समझने के लिये लिखा है अर्थात् स्पन्दसन्दोह में 'यस्यो-न्मेष-निमेषाम्याम' इस एक ही कारिका की व्याख्या में सम्पूर्ण कारिकाओं के विषय को क्रोडीकृत करके आचार्य क्षेमराज ने अपनी अलौकिक प्रतिभा को प्रगट कर दिया है। इनके अतिरिक्त ५. शिव-सूत्रविमर्शिनी, ६. शिवस्तोत्रावली, ७. नेत्रतन्त्र, ८. स्वच्छन्दतन्त्र, ९. विज्ञान भैरव, १०. स्तवचिन्तामणि, ११. साम्बपंचाशिका आदि टीकाएं भी मिलती हैं।

स्तवचिन्तामणि टीका का अच्छी तरह अध्ययन करने से संकेत मिलता है कि इस टीका की रचना का स्थान विजयेश्वर स्थल है। यह विजयेश्वर वर्तमान 'विजब्रोर (बिजविहारा) ही है, जो श्रीनगर के अनन्तनाग मार्ग पर स्थित है तथा प्राचीनकाल में संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन का भारत प्रसिद्ध केन्द्र था। आज भी यहां के ब्राह्मण ज्योतिष विद्या में पारंगत हैं तथा कश्मीर में प्रसिद्ध हैं। वे अपना परिचय देते समय विजयेश्वर का निवासी बताते हैं। आचार्य क्षेमराज का निवास स्थान या क्षेत्र वर्तमान 'क्षेमर' नामक ग्राम प्रतीत होता है, जो आज भी निशात का निकटवर्ती एक ग्राम है। इस स्थान को प्राचीनकाल में 'क्षेमराज' कहते थे, यही ग्राम आजकल 'क्षेमर' कहलाता है।

आचार्य क्षेमराज ने गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप समस्त शैवागम एवं शैवतन्त्र तथा सिद्धान्त ग्रन्थों का गहन अवगाहन करने के बाद रहस्यमय शैवदर्शन की 'पराप्रावेशिका' के रूप में रचना की है। जो पराभट्टारिका के रहस्य को भली-भांति सूझ-बूझ के साथ तन्त्र एवं शैवागमों में प्रवेश पाने के लिये पारिभाषिक शब्दावली का सुगम रीति से प्रतिपादन करती हैं तथा कश्मीरी शैव शास्त्र में प्रवेश का यह प्रारम्भिक मुख्यतम साधन है। यह पुस्तक इतनी सरल और सुबोध भाषा में लिखी गयी है कि साधारण पाठक भी पर्याप्त रूप से इसकी सहायता से लाभ उठा सकता है और वह अनेक आगम एवं तन्त्र ग्रन्थों के अध्ययन एवं मनन करने का सुयोग्य अधिकारी हो सकता है। यह ग्रन्थ शैव-दर्शन के मुख्य विषयों अर्थात् ३६ तत्त्वों का नाम निर्देश पूर्वक संक्षिप्त रूप में प्रतिपादन करता है। इन तत्त्वों के जाने बिना इस दर्शन में गति एवं प्रवेश भी नहीं हो पाता है। आगे चल कर 'षट्त्रिंशत्तत्वसन्दोह' नामक ग्रन्थ में इनका विशद विवेचन किया गया है। इन ग्रन्थों का

अध्ययन न करने पर श्री क्षेमराज के रचित 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' आदि अन्यान्य कश्मीरी शैवशास्त्रों के सिद्धान्तों के प्रतिपादक 'तन्त्रालोक' 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' आदि ग्रन्थों का समुचित अध्ययन करने में व्यक्ति असमर्थ ही रहता है। जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त शास्त्र में प्रवेश पाने के लिये 'तत्त्वबोध' 'आत्मबोध' आदि ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य है, उसी प्रकार प्रस्तुत पुस्तक का अध्ययन भी दुर्बोध कश्मोरी शैवशास्त्रमें प्रवेश पानेके लिये नितान्त अपेक्षणीय है।

आचार्य क्षेमराज ने पहले विश्वरूप और विश्व से परे 'भगवान परम शिव' की हृदयरूपा एवं पराशक्तिरूपा भट्टारिका भगवती संवित् को नमस्कार करके परमशिव स्वभाव (प्रकृति) को 'प्रकाश-रूप' बताया है वह प्रकाशरूप परमशिव ही विश्वाकार विमर्श शक्ति से विश्व को प्रकाशित करता है और वही 'अकृत्रिमोऽहम्' का विस्फुरण एवं विश्व के कर्तृत्व के साथ-साथ विश्व संहारक शक्ति को भी रखता है। इस विमर्श को ही शास्त्रों में चित्-चैतन्य अपने आप प्रकट होने वाली परावाणी को स्वातन्त्र्य-ईश्वर का मुख्य ऐश्वर्य-कर्तृता-स्फुरत्ता-हृदय और स्पन्द आदि शब्दों से बतलाया गया है। इस विमर्श शक्ति के प्रभाव से 'अकृत्रिमोऽहम्' इस प्रकार प्रकाश रूप परमेश्वर अपनी पारमेश्वरी शक्ति से 'शिव' से लेकर 'पृथिवी' तक जगत् के रूप में स्फुरित और प्रकाशित होता है। जगत् के रूप में परमेश्वर का यह स्फुरण ही दृश्य जगत् का कारण है। यह दृश्य जगत् उसी का प्रकाश हैं। अर्थात् स्वभाव प्रकृति हैं तथा जगत् का कर्तृत्व उस चेतन में ही है। परमेश्वर का वह स्वरूप ही कारण है और वही जगत् के रूप में कार्य भी है। जगत् प्रकाश रूप महेश्वर से अभिन्न है। इस प्रकार 'पूर्णाहन्ता' ही परामर्श का सार होने से वह परमशिव ही ३६ तत्वात्मक समस्त प्रपंच के रूप में विराजमान है। इन तत्वों का निरूपण आचार्य क्षेमराज ने सुबोध

रीति से लघुकाय ग्रन्थ में किया है। शिवतत्व इच्छा - ज्ञान - क्रिया रूप सब कुछ पूर्णानन्द स्वभावरूप परमशिव ही है। इस प्रकार ३५ तत्त्वों से परिपूर्ण यह पुरुषतत्त्व है। जिस प्रकार वट के बीज में शक्ति रूप से महावृक्ष रहता है, उसी प्रकार परारूपा 'हृदय' बीज में यह चराचर समस्त जगत् रहता है। जैसे घट शराव आदि नाना प्रकार के पात्रों का वास्तविक रूप 'मिट्टी' ही है तथा नाना प्रकार के स्वर्ण आभूषणों का मूलरूप 'स्वर्ण' ही है, अपि च जल के अनेक तरंग, बुदबुद (दुलबुले) लहरें आदि का मूलरूप 'जल' ही है। उसी प्रकार पृथ्वी से लेकर 'माया' पर्यन्त तत्त्वों का मूलरूप 'सत्' ही है। 'सत्' में भी धातु के अर्थ को प्रगट करने वाला तथा प्रत्ययरहित हुआ अर्थात् प्रकृतिमात्र 'सकार' ही रह जाता है। उस सकार में ३१ तत्त्व रहते हैं। उसके बाद ज्ञान-क्रिया के सारभूत 'शुद्धविद्यातत्त्व' 'ईश्वरतत्व' और 'सदाशिवतत्व' इन तीनों शक्ति विशेष का अनुभव करके अन्तिम शक्तिमय ॐ कार में छिपे रहते हैं। इसके बाद 'ऊपर' और 'नीचे' सृष्टिरूप 'विसर्ग' रहता है। इस प्रकार 'हृदयबीज' का महामन्त्ररूप, विश्व और विश्व से परे परमशिव ही उदय (प्रकट) और विश्रान्ति (विश्राम) का स्थान होने से अपने निजी स्वभाव अर्थात् स्वरूप से स्वतन्त्र है। जो मनुष्य इस प्रकार के 'हृदयबीज' को जानकर उसमें समावेश करता है, वही वास्तव में दीक्षित होकर प्राणों को धारण करता हुआ, लौकिक प्राणियों की तरह रहता हुआ भी 'जीवन्मुक्त' ही है और देह के नष्ट हो जाने पर वह 'परमशिव भट्टारक' हो जाता है। सामान्यतः सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से कश्मीरी शैवदर्शन के अनुसार परासंवित् में प्रवेश पाने के लिये बहुत थोड़े और सरल सुबोध एवं प्राञ्जल शब्दावलियों द्वारा मानव-मात्र के लिये मुक्ति का सरलतम और सुलभ मार्ग आचार्य क्षेमराज ने प्रस्तुत करके मानवमात्र पर बड़ा ही उपकार किया है। ॥ इति शिवार्पणमस्तु ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यक्षेमराजविरचिता ।

पराप्रावेशिका

विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां हृदयं परमेशितुः ।
परादिशक्तिरूपेण स्फुरन्तीं संविदं नुमः ॥

इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः, विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशनेन विश्वसंहरणेन च अकृतिमोऽहम् इति विस्फुरणम् । यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत । एष एव च विमर्शः—चित्, चैतन्यं, स्वरसोदितापरावाक्, स्वातन्त्र्यं, परमात्मनो मुख्यमैश्वर्यं, कर्तृत्वं, स्फुरत्ता, सारो हृदयं, स्पन्दः इत्यादिशब्दैरागमेषूद्घोष्यते. अत एव अकृतिमोऽहमिति-सतत्त्वः स्वयंप्रकाशरूपः परमेश्वरः पारमेश्वर्याशक्त्या शिवादि धरण्यन्तजगदात्मना स्फुरति प्रकाशते च । एतदेव अस्य जगतः कर्तृत्वमजडत्वं च, जगतः कार्यत्वमपि एतदधीनप्रकाशत्वमेव, एवं-भूतं जगत् प्रकाशरूपात् कर्तुर्महेश्वरादभिन्नमेव, भिन्नवेद्यत्वेऽप्रकाशमानत्वेन प्रकाशनायोगात् न किंचित्स्यात्, अनेन च जगता अस्य भगवतः प्रकाशात्मकं रूपं न कदाचित् तिरोधीयते, एतत्प्रकाशनेन प्रतिष्ठां लब्ध्वा प्रकाशमानमिदं जगत् आत्मनः प्राणभूतं कथं निरोद्धुं शक्नुयात्, कथं च तन्निरूध्य स्वयमवतिष्ठेत, अतश्चास्य वस्तुनः साधकमिदं-बाधकमिदं प्रमाणमित्यनुसंधानात्मकसाधकबाधकप्रमातृरूपतया चास्य सद्भावः, तत्सद्भावे किं प्रमाणम् ? इति वस्तुसद्भावमनुमन्यतां,

तादृकस्वभावे किं प्रमाणम् ?—इति प्रष्टृरूपतया च पूर्वसिद्धस्य-महेश्वरस्य स्वयंप्रकाशत्वं सर्वस्य स्वसंवेदनसिद्धम। किं च प्रमाणमपि यमाश्रित्य प्रमाणं भवति तस्य प्रमाणस्य तदधीन-शरीरप्राणनीलसुखादिवेद्यं चातिशय्य सदा भासमानस्य वेदकैक-रूपस्य सर्वप्रपितिभाजः सिद्धौ अभिनवार्थप्रकाशस्य प्रमाणवराकस्य कश्चोपयोगः। एवं च शब्दराशिमयपूर्णाहन्तापरामर्शसारत्वात् परमशिव एव षड्त्रिंशत्तत्त्वात्मकः प्रपञ्चः। षड्त्रिंशत्तत्त्वानि च,-(१) शिव (२) शक्ति (३) सदाशिव (४) ईश्वर (५) शुद्धविद्या (६) माया (७) कला (८) विद्या (९) राग (१०) काल (११) नियति (१२) पुरुष (१३) प्रकृति (१४) बुद्धि (१५) अहंकार (१६) मनः (१७) श्रोत्र (१८) त्वक् (१९) चक्षुः (२०) जिह्वा (२१) घ्राण (२२) वाक् (२३) पाणि (२४) पाद (२५) पायु (२६) उपस्थ (२७) शब्द (२८) स्पर्श (२९) रूप (३०) रस (३१) गन्ध (३२) आकाश (३३) वायु (३४) वह्नि (३५) सलिल (३६) भूमयः, इत्येतानि।

अथैषां लक्षणानि। तत्र शिवतत्त्वं नाम इच्छा-ज्ञान-क्रिया-त्मककेवलपूर्णानन्दस्वभावरूपः परमशिव एव। अस्य जगत् स्रष्टुमिच्छां परिगृहीत वतः परमेश्वरस्य प्रथमस्पन्द एवेच्छाशक्ति-तत्त्वम् अप्रतिहतेच्छत्वात्, सदेवाङ्कुरायमाणमिदं जगत् स्वात्मना-हन्तयाच्छाद्य स्थितं रूपं सदाशिवतत्त्वम्, अङ्कुरितं जगदहन्तयावृत्य स्थितमीश्वरतत्त्वम्, अहन्तेदन्तयोरैक्यप्रतिपत्तिः शुद्धविद्या, स्वस्वरूपेषु भावेषु भेदप्रथा माया, यदा तु परमेश्वरः पारमेश्वर्या मायाशक्त्या स्वरूपं गूहयित्वा संकुचितग्राहकतामश्नुते तदा पुरुषसंज्ञः, अयमेव मायामोहितः कर्मबन्धनः संसारी परमेश्वरा-दभिन्नोऽपि अस्य मोहः परमेश्वरस्य न भवेत्—इन्द्रजालमिव ऐन्द्रजालिकस्य स्वेच्छया संपादितभ्रान्तेः, विद्याभिज्ञापितैश्वर्यस्तु

चिद्घनो मुक्तः परमशिव एव। अस्य सर्वकर्तृत्वं सर्वज्ञत्वं पूर्णत्वं नित्यवं व्यापकत्वं च, शक्तयोऽसंकुचिता भवन्ति। अत्र कला नाम अपि संकोच ग्रहणेन कला-विद्या-राग-काल नियतिरूपतया—अस्य पुरुषस्य किंचित्कर्तृताहेतुः, विद्या किंचिज्ज्ञत्व कारणम्, रागो विषयेष्वभिष्वङ्गः, कालो हि भावानां भासनाभासनात्मकानां क्रमोऽवच्छेदको भूतादिः, नियतिः ममेदं कर्तव्यं नेदं कर्तव्यम् इति नियमनहेतुः, एतत्पञ्चकम् अस्य स्वरूपावरकत्वात् कञ्चुकमिति उच्यते,—महदादि-पृथिव्यन्तानां तत्त्वानां मूलकारणं प्रकृतिः, एषा च सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था अविभक्तरूपा, निश्चयकारिणी विकल्पप्रतिबिम्बधारिणीबुद्धिः, अहंकारो नाम—ममेद न ममेदमित्यभिमानसाधनम्, मनः संकल्पसाधनम्, एतत्त्रयमन्तः-करणम्। शब्दस्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मकानां विषयाणां क्रमेण ग्रहणसाधनानि श्रोत्र-त्वक्-चक्षुर्जिह्वा-घ्राणानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि। वचनादान-विहरण-विसर्गानन्दात्मक्रियासाधनानि परिपाट्या वाक्-पाणि-पाद-पायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः सामान्याकाराः पञ्च तन्मात्राणि। आकाशमवकाशप्रदम्, वायुः संजीवनम्, अग्निर्दाहकः पाचकश्च, सलिलमाप्यायकं द्रवरूपं च, भूमिर्धारिका, ।

"यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ॥"

इत्याम्नायनीत्या पराभट्टारिकारूपे हृदयबीजेऽन्तर्भूतमेतज्जगत्। कथं ?—यथा घटशरावादीनां मृद्विकाराणां पारमार्थिकं रूपं मृदेव, यथा वा जलादिद्रवजातीनां विचार्यमाणं व्यवस्थितं रूपं जलादिसामान्यमेव भवति, तथा पृथिव्यादिमायान्तानांतत्त्वानां सतत्त्वं मीमांस्यमानं सदित्येव भवेत्, अस्यापि पदस्य निरूप्यमाणं

धात्वर्थव्यञ्जकं प्रत्ययांशं विसृज्य प्रकृतिमात्ररूपः सकार एवावशिष्यते, तदन्तर्गतमेकत्रिंशत्तत्त्वम्, ततः परं शुद्धविद्येश्वरसदाशिवतत्त्वानि ज्ञान-क्रियासाराणि शक्तिविशेषत्वात् औकारेऽभ्युपगमरूपेऽनुत्तरशक्तिमयेऽन्तर्भूतानि । अतः परमूर्ध्वाधः सृष्टिरूपो विसर्जनीयः, एवं-भूतस्य हृदयबीजस्य महामन्त्रात्मको विश्वमयो विश्वोत्तीर्णः परमशिव एवोदयविश्रान्तिस्थानत्वान्निजस्वभावः । ईदृशं हृदयबीजं तत्त्वतो यो वेद समाविशति च स परामार्थतो दीक्षितः प्राणान् धारयन् लौकिकवद्वर्तमानो जीवन्मुक्त एव भवति, देहपाते परमशिवभट्टारक एव भवति ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यक्षेमराजविरचिता

पराप्रावेशिका समाप्ता ॥

कश्मीर शैवदर्शन ग्रन्थमाला

पराप्रावेशिका

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य क्षेमराजविरचिता

विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णां हृदयं परमेशितुः ।
परादिशक्तिरूपेण स्फुरन्तीं संविदं नुमः ॥

विश्वकी प्राणस्वरूपा, विश्वसे परे रहने वाली परमेश्वरकी हृदयरूपा अर्थात् (विश्वके प्रतिष्ठापनका स्थान होनेके कारण उसे परमेश्वरका हृदय कहा गया है) तथा जो परा-अपरा आदि शक्ति-रूपसे स्पन्दन करती रहती है, उस भगवती संवित्की हम स्तुति करते हैं।

इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च[1] विमर्शस्वभावः ।

इस कश्मीरी शैव आगम शास्त्रमें 'परमेश्वर' को 'प्रकाशस्वरूप' कहा गया है। वह 'प्रकाश' विमर्शस्वभाव वाला है। (विमर्शके कई नाम हैं यथा पराशक्ति, परावाक्, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरता, सार, हृदय, स्पन्द)।

---

१. परमेश्वर 'प्रकाशस्वभाव' होने पर भी क्या 'शान्तब्रह्म-वादियों' की तरह केवल बोध (ज्ञान) स्वभाव होगा ? इस आशङ्का-का समाधान दे रहे हैं—

विमर्शो[२] नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्व-संहरणेन च अकृत्रिमाहम् इति विस्फुरणम् ।

अब जिज्ञासा होती है कि वह 'विमर्श' क्या है ? उसे कहते हैं कि 'विश्वकार', 'विश्वप्रकाशन', विश्वसंहार' रूप में जो अकृत्रिम (स्वाभाविक) अहमाकार है, अर्थात् 'मैं' ही इस विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार करता हूँ उसका (अकृत्रिम अहम् आकार का) 'स्फुरण' होना ही विमर्श है ।

यदि[३] निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत ।

यदि प्रकाशमात्र परमशिव विमर्श रहित होता तो उसे अनीश्वर और जड कहना होगा ।

एव एव विमर्शः–चित्-चैतन्यं, स्वरसोदिता, परावाक्, स्वातन्त्र्यं, परमात्मनो मुख्यमैश्वर्यं. कर्तृत्वं, स्फुरत्ता,

---

२. परिमित और अपरिमित रूप से विमर्श दो प्रकार का होता है । परिमित विमर्श में 'शून्यादि प्रमाता' के उचित विमर्श से अर्थात् संवित् प्रकाशकी परिच्छिन्नता जिस प्रकार न हो सके, इस आशय से ग्रन्थकार ने कहा है कि "विमर्शो नामेति" वह विमर्श' विश्वाकार से 'सृष्टि' में, सृष्टि के प्रकाश से 'स्थिति' में और आत्मसाक्षात्कार रूप संहरण से 'संहार' में पूर्णाहन्ता ('पूर्ण अहं चेतना" अर्थात् जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का कोई भेद नहीं रहता) चमत्कार-रूप रहता है ।

३. यदि विमर्श रहित 'परमशिव' सूर्य आदि के प्रकाश की तरह अन्य (पर) की अपेक्षा रखता । अर्थात् पर पक्षपाती (अस्वातन्त्र्य का आश्रित) होता तो विमर्श रहित होने से संवित् प्रकाशको भी 'परमशिव' कहना होगा ।

सारो, हृदयं, स्पन्दः इत्यादि शब्दैरागमेषूद्घोष्यते।[४]

समस्त शैवागम-शास्त्रों में चित्, चैतन्य, स्वाभाविकरूप से प्रकाश होने वाली परावाक्, स्वातन्त्र्य, 'परमात्मा' का मुख्य ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द, इत्यादि शब्दों के द्वारा, इसी विमर्श को कहा गया है। जैसे चैतन्य-स्वरूप 'विमर्श' ही आत्मा का मुख्य स्वरूप है—इसी अभिप्राय का धर्म वाचक निर्देश शब्द से किया गया है।

'विमर्श' का ही नामान्तर स्वातन्त्र्य भी है। वह स्वातन्त्र्य संयोजन वियोजनादि रूप है। अपने में-से बहिष्कृत हुए 'इदन्ता' पद को अपने में संयुक्त करता (जोड़ता) है, और संयुक्त करके भी पुनः वियोजयति = पृथक् भी करता है। अर्थात् शून्य आदि

---

४. इस शैवशासन-शास्त्र में संवित्प्रकाश के विमर्श-प्राधान्य को ही उन-उन आगमों में घोषित किया गया है। उसी को आगम की भिन्न-भिन्न भाषाओं द्वारा कहा जाता है। जैसे 'चैतन्य' स्वरूप 'विमर्श' ही आत्मा का मुख्य रूप है इस अभिप्राय से धर्मवाचक शब्द से उसका निर्देश किया गया है। तथा 'स्वरसोदिता परावाक्' में 'वाक्' की व्युत्पत्ति यह की जाती है कि 'वक्ति' इति वाक्। अर्थात् प्रत्यवमर्श-ज्ञान के द्वारा विश्व का जो अभिलपन (व्यक्त) करती है वह 'वाक्' है। और वही 'वाक्' अन्य परामर्शों का आधाररूप और पूर्ण होने से 'परा' कहलाती है। अतएव उस 'परावाक्' का प्रसर स्वतन्त्र (अनिरुद्ध) होने के कारण और 'अहम' इस परिपूर्ण चिद् (ज्ञान) रूप शरीर से सदा उदित (प्रगट) होने के कारण उसे 'स्वरसोदिता' कहा गया है। अर्थात् वह अपने स्वभाव स्वातन्त्र्य से प्रगट होती है। अतएव उसे स्वरसोदिता परावाक् कहा गया है।

विषय में इदन्ता' पद को न्यग् = नीचे करता है। इस प्रकार उसका लक्षण (स्वरूप) होने से वह विमर्श जड़ता की अपेक्षा किसी विलक्षणता का आधायी (आधान करने वाला) होता है।

तथा उक्त 'विमर्श' का नाम 'ऐश्वर्य' भी है। वह ऐश्वर्य भी विश्व की सृष्टि आदि के करने में अन्य निरपेक्षरूप है, अर्थात् अन्य की अपेक्षा उसे नहीं रहती और न ऐश्वर्य तथा माया से मिश्रित हुए अधिकारी ब्रह्मा-आदि की तरह अन्य माया की इच्छाके वशीभूत होने से नियति = (भावि काल) के नियन्त्रण (बन्धन) में है।

उसी प्रकार कर्तृत्व भी है। वही कर्तृत्व जो अलौकिक कार्य-कारण एवं अपने अन्तः प्रकाश की एकता में स्थित शिव से लेकर पृथ्वी तक के विश्वका इदन्ता द्वारा योगो के निर्माण-समाधि की तरह समुन्मीलन (प्रगट) करते हुए उसका पृथक् आविर्भाव करना ही 'कर्तृत्व' है।

और 'स्फुरत्ता' तो स्फुरण संम्बन्ध ही है। यह स्फुरत्ता घटादि पदार्थों की नहीं होती। यदि घट-आदि की स्वतन्त्र सत्ता होती तो सभी को सदैव धट-आदि भी प्रस्फुरित होते। किन्तु वे किसी को स्फुरित नहीं होते। अन्यथा सभी की सर्वज्ञता हो जायेगी। इसलिये (मम) मेरी स्फुरता आविष्ट होकर प्रगट होती है, यह अभिप्राय है।

'सार' वह अतुच्छ (उत्तम) रूप है, वह परमेश्वर की विमर्श शक्ति ही है। 'हृदय' वह है जो विश्वकी प्रतिष्ठा का स्थान है। इसलिये उस परमेश्वर को हृदय कहा गया है।

'स्पन्द' वह है जो अचल चित्-प्रकाश परम शिवकी चलन्ता (गतिमन्ता) का आभासन है। जो अतिरिक्त न होने पर भी अतिरिक्त की तरह संपूर्ण विश्व को आभासित करता है।

अत[५] एव अकृत्रिमाहमिति-सतत्वः स्वयं प्रकाशरूपः परमेश्वरः पारमेश्वर्या शक्त्या शिवादि धरण्यन्त जगदात्मना स्फुरतो प्रकाशते च।

इसी लिए विमर्श शक्ति के बल से अकृत्रिम (स्वाभाविक) अहम् (मैं हूँ) तत्त्व के साथ स्वयं प्रकाशरूप परमेश्वर अपनी पारमेश्वरी शक्ति से शिव आदि से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जगत्रूप में स्फुरित और प्रकाशित होता है।

एतदेव[६] अस्य जगतः कर्तृत्वमजडत्वं च।

यह स्फुरण (चेतन) ही इस जगत् का कर्तृत्व और अजडत्व चेतनत्व है।

एतदेव अस्य जगतः कर्तृत्वमजडत्वं च, जगतः[७] कार्यत्वमपि एतदधीनप्रकाशत्वमेव।

यही इस जगत का कर्तृत्व और अजडत्व है, जगत् का कार्यत्व भी उसी परमेश्वर के अधीन प्रकाशित होता है।

---

५. विमर्श शक्ति की महिमा से ही परमेश्वर विश्व वैचित्र्य के रूप में अपने आप ही उल्लसित होता है, यह बताते हुए विमर्श शक्ति के लक्षण का उपसंहार (समापन) करते हैं। अत एवेति सृष्टि का कोई अन्य कारणान्तर नहीं हो सकता क्योंकि माया, प्रकृति आदि भेद-अभेद रूप विकल्पों से उपहत = नष्ट होने से उनमें (माया, प्रकृति आदि) जगत् (सृष्टि) का कर्तृत्व नहीं हो सकता है।

६. जो विश्व के आकार में परमेश्वर का स्फुरण है वही पारमार्थिक (वास्तविक) कर्तृत्व है। परमेश्वर के उस स्फुरण से ही प्रकाशमान विश्वका अजड़ (चेतन) भाव होना भी सम्भव हो सकता है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार बता रहे हैं। एतदेवेति।

७. किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जगत् की कार्यरूपता

एवं भूतं जगत् प्रकाशरूपात् कर्तुर्महेश्वरादभिन्नमेव, [८]भिन्नवेद्यत्वेऽप्रकाशमानत्वेन प्रकाशनायोगात् न किंचित्स्यात् ।

इस प्रकार जगत् प्रकाशरूप महेश्वर से अभिन्न ही है। जगत् को भेद ज्ञान का विषय मानने पर अप्रकाशमान होने से उसका प्रकाशन नहीं हो सकेगा, तब वह कुछ भी नहीं होगा।

अनेन[९] च जगता अस्य भगवतः प्रकाशात्मकं रूपं

और इस विवेचन से जगत् के द्वारा उस भगवान् का प्रका-

भेद रूप से है अथवा अभेद रूप से ? अर्थात् क्या जगत् को परमेश्वर से भिन्न मानकर या उस से अभिन्न मानकर उसकी कार्यरूपता है ? यहि अभेद रूप से जगत् 'कार्य' है तो कर्ता परमेश्वर की स्वतन्त्रता न रहे, यदि जगत् परमेश्वर से अभिन्न है तो कैसे ? इस आशंका को जगत्-इत्यादि से बता रहे हैं, यह जगत पर प्रकाश के बिना अचेत्य होने से अपना आत्मलाभ (स्व-स्वरूप की प्राप्ति) नहीं कर सकेगा। परमेश्वर को जगत् का आश्रय मानने पर 'जगत्' प्रकाशरूप शरीर को प्राप्त होता है, यही उसमें कार्यत्व है। केवल माया के वल पर (स्वतन्त्रता द्वारा) भेद के भासन होने से (भिन्न न होने पर भो) उसमें भिन्नता का व्यवहार होता है।

८. अभेद होने पर ही विश्व के प्रकाशन में समर्थ होगा, नहीं तो वह विश्वस्वरूप-शून्य होने से विश्व का हान-आदानादि रूप व्यवहार नष्ट हो जायेगा, इसी अभिप्राय से कहा गया है— भिन्नवेद्यत्वे इति।

९. यदि जगत् परमेश्वर से अभिन्न है तो प्रकाशैकरूप जगत् के भासमान होने से परमेश्वर में सारूप्य भेद अपरिहार्य है। उससे

न (कदाचित्) तिरोधीयते, एतत्प्रकाशनेन प्रतिष्ठां लब्ध्वा प्रकाशमानमिदं जगत् आत्मनः प्राणभूतं कथं निरोद्धुं शक्नुयात्, कथं च तन्निरुध्य स्वयमवतिष्ठेत।

शात्मक रूप कभी भी तिरोहित (आवृत) नहीं होता है। भगवान् के प्रकाश से प्रतिष्ठा पाकर प्रकाशमान् यह जगत् अपने प्राणभूत प्रकाश को कैसे आवृत (तिरोहित) कर सकेगा और उस प्रकाश को अवरुद्ध कर स्वयं कैसे अवस्थित रह सकेगा ?

[१०]अतश्चास्य वस्तुनः साधकमिदं बाधकमिदं प्रमाणमित्यनुसंधानात्मक साधक बाधक— प्रमातृरूपतया चास्य सद्भावः, तदसद्भावे किं प्रमाणम् ? इति वस्तुसद्भावमनुमन्यताम्

अतः इस वस्तु का यह साधक प्रमाण है और यह बाधक प्रमाण है—इस प्रकार अनुसन्धानात्मक साधक-बाधक प्रमातृ रूपता रहने से इसका सद्भाव है। इसपर प्रश्न होता है कि उसके सद्भाव में क्या प्रमाण है ? जिससे वस्तु का सद्भाव ही मान लिया जाये, उस प्रकार के सद्भाव में क्या प्रमाण है ? इसका उत्तर यह है कि

भी परमेश्वर का प्रकाशमान रूप तिरोहित होगा। इस शंका को दूर करने के लिए 'अनेन' इस ग्रन्थ से कह रहे हैं। तिरोहित करने पर तो अपने स्वरूप को प्राप्त होने पर भी प्रकाश के आवरण से वह स्वयं ही नष्ट हो जायेगा।

१०. ज्ञापकादि कारक पूर्वसिद्ध ईश्वर को बता नहीं सकते। इसी आशय को लेकर उसका विधान आदि करने वाले प्रमाता भी तद्रूप रहने के कारण स्पष्ट है कि ईश्वर की सिद्धि प्रमाण के अधीन नहीं है इसलिए स्व प्रकाशरूप ईश्वर तो अनुभव से ही सिद्ध है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने बताया हैं—'अतश्चास्येति'।

तादृक्स्वभावे किं प्रमाणम् ?—इति प्रष्टृरूपतया च पूर्वसिद्धस्य महेश्वरस्य स्वयं प्रकाशत्वं सर्वस्य स्वसंवेदनसिद्धम् ।

प्रश्नकर्त्ता के रूप में पूर्वसिद्ध महेश्वर का 'स्वयं प्रकाशत्व' सभी को स्वसंवेदन (अनुभव) से ही सिद्ध है, अर्थात् अपने अनुभवात्मक ज्ञान में किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती।

किं च[११] प्रमाणमपि यमाश्रित्य प्रमाणं भवति तस्य प्रमाणस्य तदधीनशरीर प्राणनीलसुखादि वेद्यं चातिशय्य सदा भासमानस्य वेदकैकरूपस्य सर्वं प्रमिति भाजः सिद्धौ अभिनवार्थ प्रकाशस्य प्रमाणवराकस्य कश्चोपयोगः ।[१२]

और प्रमाण भी जिसके आश्रय से प्रमाण होता है, उस प्रमाण को परमेश्वराधीन शरीर, प्राण, नील, सुखादि को अतिक्रमण करके वेत्ता एकरूप से सदा भासमान समस्त ज्ञान के आधार रूप सिद्ध होने पर अभिनवार्थ प्रकाश अर्थात् जड पदार्थ को प्रकाश करने वाले तुच्छ प्रमाण का क्या उपयोग हो सकता है, अर्थात् प्रमाण से उसका ज्ञान नहीं हो सकता।

---

११. संवित्प्रकाश ही सबका प्राणभूत है माया से सम्बन्धित व्यवहार में प्रमाण को कल्पना करता है, इसलिये पूर्वसिद्ध होने से संवित्प्रकाश में कोई प्रमाण उपयुक्त नहीं है, इसीलिए कहा है 'किञ्चेति'। क्योंकि पर प्रकाश की अपेक्षा अन्य सब पदार्थ जड होने से अपने को भी भासित करने में असमर्थ—प्रमाण कैसे अन्य की व्यवस्था करने का उद्यम (प्रयत्न) कर सके ?

१२. प्रमाण का कौनसा उपयोग है ? प्रमाण वही हैं, जो अभिनव आभास रूप को प्रमाता में प्रमिति लक्षण (प्रमितिस्वरूप)

एवं च[13] शब्दराशिमयपूर्णाहन्तापरामर्शसारत्वात् परमशिव एव षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकः प्रपञ्चकः।

इस प्रकार शब्दराशिमय = समस्त शब्दों का भण्डार पूर्णाहन्ता से पूर्ण अहं चेतना, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता है, परामर्शसार = मानसिक अनुभव अर्थात् ज्ञान का स्मरण करना तत्त्वरूप से वह परमशिव ही ३६ तत्त्वात्मक प्रपञ्च है।

षट्त्रिंशत्तत्त्वानि[14] च-शिव-शक्ति सदाशिव-ईश्वर

छत्तीस तत्त्व यह हैं—१. शिव २. शक्ति ३. सदाशिव ४. ईश्वर

विश्रान्त होकर प्रमाण होता है, और प्रमाता नित्य अवभासित होने से विच्छेदरहित निरन्तर आभास वाली सभी प्रमितियों को अपनी अन्तर्मुखरूप आत्मा में धारण करता है, इसलिये उस 'प्रमाता' में अभिनव आभास कैसे युक्ति-युक्त होगा ? और उसकी प्रमिति अन्यत्र कहां विश्रान्त होगी ! अतः देह, प्राण, नील, सुखादि वेद्य, वस्तु में ही प्रमाण का उपयोग है, न कि प्रमाणके प्राणभूत परमेश्वर में प्रमाण की उपयोगिता है। कहा भी है—"प्रमाणान्यपि.............स एव परमेश्वरः" जो प्रमाण भी वस्तुओं की यथार्थता का विस्तार करते हैं। उन प्रमाणों से भी परे जीव है, वही परमेश्वर है।

१३. शब्दराशिमयेति-शब्दराशि अर्थात् अकार से हकार तक वर्ण समूहरूप समस्त विश्व को अन्तर्हित कर जो अनन्य मुख प्रेक्षित स्वातन्त्र्य-विश्रान्तिरूप (अहमेव प्रकाशात्मा प्रकाशः) में ही प्रकाश-रूप से प्रकाशित हो रहा हूँ, इस आकार में पूर्णाहन्ता परामर्श है वह सार (अतुच्छरूप) ही जिसका रूप है उसी का भाव (धर्म) यह अहन्तापरामर्शसारत्व है। उसी कारण छत्तीसतत्त्वात्मक वह प्रपञ्च परमशिव ही है।

१४. षट्-त्रिंशत् तत्त्वों के भाव को तत्त्व कहते हैं। भिन्न वर्गों

अशुद्धविद्या माया-कला-विद्या-राग-काल-नियति पुरुष प्रकृति-बुद्धि-अहंकार-मनः श्रोत्र-त्वक्-चक्षुः जिह्वा-घ्राण-वाक् पाणि-पाद पायु-उपस्थ-शब्द-स्पर्श रूप-रस गन्ध-आकाश-वायु वह्नि-सलिल-भूमयः इत्येतानि।

५. शुद्धविद्या ६. माया ७. कला ८. विद्या ९. राग १०. काल ११. नियति १२. पुरुष १३. प्रकृति १४ बुद्धि १५. अहंकार १६. मन १७. श्रोत्र १८. त्वक् १९. चक्षु २०. जिह्वा २१. घ्राण २२. वाक् २३. पाणि २४. पाद २५. पायु २६. उपस्थ २७. शब्द २८. स्पर्श २९. रूप ३०. रस ३१. गन्ध ३२. आकाश ३३. वायु ३४. वह्नि ३५. सलिल और ३६. भूमि ये तत्त्व हैं।

अथैषां लक्षणानि। तत्र शिवतत्त्वं नाम इच्छा-ज्ञान क्रियात्मक केवल पूर्णानन्दस्वरूपः परमशिव[१५] एव।

इसके बाद इन तत्त्वों के लक्षण बता रहे हैं। उनमें से शिव तत्त्व का यह लक्षण है—इच्छा, ज्ञान, क्रिया—केवल इन पूर्णानन्द स्वभाव रूप परम शिव ही है।

के वर्गीकरण के लिये जो एक अविभक्त अर्थात् (अपृथक्) रूप से भाति = भासित हो वही तत्त्व कहलाता है, जैसे पर्वत, वृक्ष, नगर आदि और नदी, तालाब, सागरादि का क्रमसे पृथिवी रूपत्व और जल रूपत्व प्रतीत होता है।

१५. सभी प्रमाताओं के अन्दर परिस्फुरित होता हुआ स्पन्दमान पूर्णाहन्ता चमत्कारमय सभी तत्त्व राशि से परे अर्थात् सकल तत्त्व-राशि में रहने वाले सैकड़ों सहस्त्रों सृष्टिसंहार के प्रतिबिम्बों को सहने वाला महाप्रकाशात्मक शरीर को धारण करने वाला ही 'शिव तत्त्व है।

अस्य जगत् स्रष्टुमिच्छां परिगृहीतवतः परमेश्वरस्य प्रथमस्पन्द [१६] एवेच्छाशक्तितत्त्वम् अप्रतिहतेच्छत्वात् ।

इस जगत् का सृजन करने की इच्छा करने वाले इस परमेश्वर का प्रथम स्पन्द (स्फुरण) ही इच्छा शक्ति तत्त्व है। क्योंकि परमेश्वर की इच्छा में रुकावट नहीं है।

सदेवाङ्कुरायमाणमिदं जगत् स्वात्मनाहन्तयाच्छाद्य स्थितं रूपं [१७] सदाशिव तत्त्वम् ।

उसका वह 'सत्रूप' ही अङ्कुर की तरह होता हुआ यह जगत् अपने आत्मा-स्वरूप में 'अहन्ता' से आच्छादित होकर (ढककर) स्थित है, उसी को सदाशिव तत्त्व कहते हैं। अर्थात् 'अहन्ता' से इदन्ता को आच्छादन करने वाले तत्त्व को 'सदाशिव' तत्त्व कहते हैं।

अङ्कुरितं जगदहन्तयावृत्य स्थितमीश्वर [१८] तत्त्वम् ।

अङ्कुरित हुआ जगत् अहन्ता से आवृत्त (ढका हुआ) होकर जब स्थित होता है तब वह ईश्वर तत्त्व कहलाता है।

---

१६. उसी परमेश्वर के स्वातन्त्र्य के महात्म्य से बाहर उल्लसित की इच्छा से परमानन्द के चमत्कार की अधिकता से 'अहम्' यह परामर्श ही शक्ति तत्त्व है।

१७. जब परमेश्वर शुद्ध ज्ञानमात्ररूप अधिकरणरूप 'अहं' इस अंश में 'इदम्' अंश को भासित (समुल्लासित) करता है तब उस परमेश्वर के विकसित (प्रोन्मीलित) मानचित्र (आकाशरूप मानचित्र) के तुल्य अभिप्राय समूह विषयरूप (भावराशिविषयत्वेन) स्पष्ट न होने से इच्छा प्रधान वह सदा शिव तत्त्व होता है।

१८. इदमंश के स्फुट (स्पष्ट) हो जाने पर जब अहमंश को सिञ्चत करता है तब ज्ञान शक्ति की प्रधानता से ईश्वर तत्त्व

अहन्तेदन्तयोरैक्य प्रतिपत्ति [19]शुद्धविद्या ।

अहन्ता और इदन्ता इन दोनों के ऐक्य का ज्ञान ही शुद्ध विद्या तत्त्व है।

स्वस्वरूपेषु भावेषु भेदप्रथा माया[20] ।

अपने स्वरूप वाले भावों (पदार्थों) में भेद प्रथारूप माया तत्त्व है। अर्थात माया में महेश्वर का स्वरूप गुप्त रहता है। उसका यह स्वरूप-गोपन माया और उसके कंचुकों द्वारा होता है। माया शब्द "मा माने" धातु से बना है। जिसका अर्थ होता है मापना मापकर पृथक् कर देना। वह अहं को इदं से पृथक् कर देतो है, और इदं को अहं से पृथक् कर देती है, अर्थात् दोनों में भेद उत्पन्न कर देती है, अर्थात् वस्तुओं को एक दूसरे से भिन्न कर देती है उसी को माया तत्त्व कहते हैं।

होता है। सदाशिव तत्त्व और ईश्वर तत्त्व इन दोनों तत्त्वों में 'अहम्' विमर्श की विशेषता न रहने पर भी (समानता रहने पर भी) इदमंश में बुद्धि की मलिनता (श्यामलता) बुद्धि की निर्मलता (अश्यामलता) के कारण विशेषता भी है।

१९. जब विकसित (प्ररूढ) भेदरूप भिन्न-भिन्न भाव राशि (अभिप्राय समूह) में प्राप्त (गत) इदमंश के स्फुरण (स्पन्दन) में चित्त-मात्र (ज्ञानमात्र) होने से अहमंश अच्छी तरह उल्लसित होता है तब भेदवादी और अद्वैतवादियों की तरह ईश्वर का जो बराबर दोनों पलड़े वाली तुला (तराजू) अर्थात् समधृततुलान्याय से अहमिदम् (मैं-यह) इस प्रकार से जो मरामर्श होता है वह क्रिया शक्ति की प्रधानता के कारण वही शुद्धविद्या तत्त्व कहलाता है।

२०. कठिन से कठिन वस्तु के सम्पादन में अप्रतीघातरूपा, (अव्यवधानरूपा), अचित्यरूप और शून्य आदि में प्रमातृता के अभिमान को प्ररूढ (दृढ) करती हुई चिदेकमय (ज्ञानमात्र) भावों

यदातु परमेश्वरः पारमेश्वर्या [21]मायाशक्त्या स्वरूपं गृहीत्वा संकुचितग्राहकतामश्नुते तदा पुरुष-संज्ञः।

किन्तु जब परमेश्वर अपनी पारमेश्वरी माया शक्ति से स्वरूप ग्रहण करके संकुचित ग्राहकता का योग करता है तब वही पुरुष संज्ञक होता है।

अयमेव माया मोहितः [22]कर्मबन्धनः संसारी[23]।

यही पुरुष माया से मोहित होकर कर्मबन्ध वाला संचारी कहलाता है।

परमेश्वरादभिन्नोऽपि अस्य मोहः परमेश्वरस्य न भवेत्-इन्द्रजालमिव ऐन्द्रजालिकस्य स्वेच्छया संपादित भ्रान्तेः।

परमेश्वर से अभिन्न होने पर भी इसी जीव को मोह होता है, परमेश्वर को वह नहीं होता है। जैसे इन्द्रजाल करने वाला अपनी इच्छा से ही दर्शकों कीं भ्रान्ति के लिए अपना इन्दजाल प्रगट करता

(पदार्थों) को भी भेद में भिन्नरूप में आभासित करती हुई तथा अपने स्वरूप को छिपाती हुई 'कला' आदि से लेकर पृथ्वी पर्यन्त पदार्थों (भावों) की जो उपादान कारण है वही माया है।

२ . माया शक्ति अर्थात् स्वातन्त्र्य शक्ति।

२२. कर्मबन्धन का अर्थ है कर्मों को अपनी आत्मा का बन्धक (बांधने वाला) मानता हुआ संसारी कहलाता है।

२३. संसरति जीवन-मरण-सुखदुःखमनुभवति (जीवन-मरण के सुख दुःख का अनुभव करता है।) अतः संसारी कहलाता है। बाल्य-यौवन अवस्थाओंमें देह भी स्वरूप सादृश्य का अनुवर्तन (अनुरूप परिवर्तन) करता हुआ संसरण सा ही करता रहता है। बुद्धि आदि का तो जन्मान्तर में भी संस्मरण (अनुवर्तन होता ही है।

[२४]विद्याभिज्ञापितैश्वर्यस्तुचिद्घनो मुक्तः[२५] परमशिव एव।

है। परन्तु स्वयं मोहित नहीं होता। उसी प्रकार परमेश्वर को अपनी माया से मोह नहीं होता है। अर्थात् बाजीगर और दर्शकों में जो अन्तर है वही जीव और परमेश्वर में है। वस्तुतः विद्या से अभिज्ञापित (विज्ञात) ऐश्वर्य वाला चिद्घन (ज्ञानपूर्ण) मुक्त परमशिव ही है।

अस्य सर्वकर्तृत्वं सर्वज्ञत्वं पूर्ण स्वं नित्यत्वं व्यापकत्वं च, शक्तयोऽसंकुचिता अपि संकोचग्रहणेन कला-विद्या - राग - काल नियति रूपतया[२६] भवन्ति।

इस परमेश्वर की सर्वकर्तृत्वा, सर्वज्ञता, पूर्णता, नित्यता और व्यापकता रूप शक्तियाँ असंकुचित होती हुई भी संकोच कर लेने से कला, विद्या, राग, काल, नियत रूप से होती हैं।

---

२४. स्वरूप प्रकाशन रूप विद्या शक्ति से 'अभिज्ञा' पद (ऐश्वर्य, स्वातन्त्र्य) प्राप्त कराया है जिसको। इसी कारण वह चिद्घन (ज्ञानघन) है। शरीर आदि विश्व भी अचित् (अज्ञान) रूप व्यामिश्रण (अज्ञान संमिश्रण) से शून्य (रहित) है। अतः संवेदन (ज्ञान) रूप ही समझा जाता है। यही उसमें विद्याभिज्ञापितैश्वर्य है।

२५. पुनर्जन्म बन्धन के विरह (अभाव) से देह के स्थित रहने पर भी उसे मुक्त कहा जाता है। देह के पतित होने पर (मरने पर) तो वह परमशिव स्वरूप ही है।

२६. जैसे राजा द्वारा सर्वस्व सम्पत्ति छीन लिये गये पुरुष को कृपा कर जीवन यापन के लिए कुछ थोड़ा सा धन दिया जाता है, उसी तरह अणुत्व को प्राप्त हुए (छीन लिए गये) सर्वज्ञत्व आदि

अत्र कला[२७] नाम अस्य पुरुषस्य किंचित् कर्तृताहेतुः ।

इस पुरुष की किंचित् कर्तृता में जो हेतु (कारण) उसे कला तत्त्व कहा जाता है ।

[२८] विद्या किंचिज्ज्ञत्व कारणम् ।

किंचित् ज्ञान के होने में जो कारण है उसको विद्या कहते हैं ।

[२९] रागो विषयेष्वभिष्वङ्गः ।

रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों में अत्यन्त आसक्त होना 'राग' कहलाता है ।

कालो हि भावानां भासनाभासनात्मकानां
[३०] क्रमोऽवच्छेदको भूतादिः ।

भासित (दिखाई देने वाले) और अभासित (न दिखाई देने वाले) पदार्थों का क्रम जब भूत, भविष्यत् वर्तमान के रूप में अवच्छेदक हो जाता है, तब उसे 'काल' तत्त्व कहते हैं ।

बोध (ज्ञान) के स्थान पर कुछ कर्तृता आदि परमार्थ कलाएँ उसे प्रदान की जाती हैं ।

२७. जिससे (कला के कारण) सब कुछ करने का सामर्थ्य नहीं रहता अपितु 'घट' आदि कतिपय वस्तुओं को ही करने का सामर्थ्य रहता है, उसे कला तत्त्व कहते हैं ।

२८. जिससे समीपस्थ घट - आदि कुछ ही वस्तुओं को जाना जाता हैं, दूरस्थ व्यवहित वस्तुओं को नहीं जान पाता है, उसे विद्या कहते हैं ।

२९. राग इति । अपने को अपूर्ण मानकर 'यह मेरे उपयुक्त है, 'मैं वैसा होऊँ, 'मैं वैसा कभी भी नहीं हुआ' । यही 'राग' तत्त्व कहलाता है ।

३०. क्रम ही अवच्छेदक है । जैसे मैंने जाना था, मैं जानता हूँ, मैं जानूँगा तथा मैंने किया, मैं करता हूँ, और मैं करूँगा । इस

[31]**नियतिः ममेदं कर्तव्यं नेदं कर्तव्यम् इति नियमन् हेतुः ।**

'यह मेरा कर्तव्य है' 'यह मेरा कर्तव्य नहीं है'—इस प्रकार नियमन (नियंत्रण) के हेतु को 'नियति' तत्त्व कहते हैं।

एतत् पञ्चकम् अस्य स्वरूपावरकत्वात् [32]कञ्चुकमिति उच्यते ।

'कला' से लेकर 'नियति' तक 'पांच कञ्चुक' पुरुष के स्वरूप का आवरण (आच्छादन) करते हैं इसलिए उन्हें कञ्चुक कहते हैं।

महदादि-पृथिव्यन्तानां तत्त्वानां मूलकारणं प्रकृतिः,
एषा च [33]सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था अविभक्तरूपा ।

'बुद्धि' से लेकर 'पृथिवी' पर्यन्त २३ तत्त्वों का मूल कारण "प्रकृति' है। और वह (प्रकृति) 'सत्त्व, रजः, तमस्' गुणों की साम्यावस्थारूप (अविभक्त-अपृथक् रूप) है।

प्रकार ज्ञान और क्रिया से युक्त पदार्थों को भी उसी तरह समझाता हुआ उन्हें पृथक करता है उसे 'काल' तत्त्व कहते हैं।

३१. 'मेरा यह कर्तव्य है', स्वर्ग आदि फल देने वाले 'अश्व-मेधादि' यज्ञ मुझे करने चाहिये, नरकादि फल देने वाले 'ब्रह्म हननादि' कर्म मुझे नहीं करने चाहिये। तथा नियत कारण से नियत कार्य ही होते हैं, इत्यादि अनेक प्रकार का नियति तत्त्व होता है।

३२. जो स्वरूप से अतिरिक्त होता हुआ भी अनतिरिक्तता (अभिन्नता) से पूर्ण संवित् के स्वरूप को आच्छादन (ढक) कर स्थित रहता है इसलिए वह 'कञ्चुक' कहलाता है।

३३. सुख दुःख-मोहात्मक (प्रकाश, क्रिया, नियमन, (नियंत्रण) स्वभाववाले सत्त्व, रजस्, तमस् की जो साम्यावस्था सामान्य रूप है, उसे 'प्रकृति' तत्त्व कहते हैं। उस 'प्रकृति' में इन गुणों का अङ्गाङ्गि भाव नहीं है (कौन अङ्ग है और कौन अङ्गी है ? यह बात नहीं होती है।)

[३४]निश्चयकारिणी [३५]विकल्प प्रतिबिम्बधारिणी बुद्धिः ।

निश्चय करने वाली और विकल्प के प्रतिबिम्ब (छाया) को धारण करने वाली 'बुद्धि' कहलाती है ।

अहंकारो नाम-ममेदं न ममेदमित्यभिमान साधनम् ।
मनः संकल्प साधनम्, [३६]एतत् त्रयमन्तः करणम् ।

'यह मेरा है' 'यह मेरा नहीं है' इस अभिमान का साधन 'अहंकार तत्त्व' है । और मन' संकल्प का साधन है । अतः बुद्धि, अहंकार और मन–ये तीनों अन्तःकरण कहलाते हैं ।

शब्दस्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मकानां विषयाणां क्रमेण ग्रहण-साधनानि श्रोत्रत्वक्-चक्षुर्जिह्वा-घ्राणानि-पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धात्मक विषयों का क्रम से ग्रहण करने के साधन-श्रोत्र (कान), त्वक् (त्वचा), चक्षुः, (नेत्र), जिह्वा और घ्राण (नासिका); यह पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं ।

वचनादान विहरण-विसर्गानन्दात्मक्रियासाधनानि परिपाट्या वाक् - पाणि - पादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि ।

वचन (बोलना), आदान (लेना), विहरण (घूमना), विसर्ग (त्याग करना) और आनन्द लेना आदि क्रियाओं के साधनों को

---

३४. 'यह ऐसा ही है'—इस प्रकार निश्चय करने वाली ।

३५. सत्त्वगुण की प्रधानता रहने से स्वच्छता और प्रतिबिम्व ग्रहण योग्यता रहने से वह विकल्प प्रतिबिम्ब धारण करने वाली 'बुद्धि' कहलाती है ।

३६. अन्तर्वेद्य (भीतर ही भीतर जानने योग्य) सुख-दुःखादि के ग्रहण का साधन होने से वह अन्तःकरण कहलाता है । इनमें अङ्गाङ्गि भाव रहने से वह अन्तःकरण, 'गुणों' का कार्य है और आगे कहे जाने वाले पञ्चभूत और इन्द्रियादि कार्य समूह का कारण भी है ।

क्रम से वाक् (वाणी), पाणि (हाथ), पाद (पाओं), पायु (गुदा) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) को पञ्च कर्मेन्द्रिय कहते हैं।

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः सामान्याकाराः पञ्चतन्मात्राणि[३७]।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, ये सामान्य आकार वाले पांच 'तन्मात्र' हैं।

आकाशमवकाशप्रदम्, [३८]वायुः संजीवनम् अग्निर्दाहकः पाचकश्च, सलिलमाप्यायकं द्रवरूपं च भूमिर्धारिका।

आकाश—अवकाश (स्थान) देनेवाला होता है, 'वायु' संजीवन जिलाने वाला होता है, 'अग्नि' दाहक (जलाने वाली) और पाचक (पचाने वाली) होती है, 'सलिल' (जल) तृप्तिकारक और द्रव (तरल) होता है, और पृथ्वी' धारण करने वाली होती है।

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः। तथा हृदय-बीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्॥ (परात्रिंशिका)

जैसे न्यग्रोध (बरगद) के अणुरूप बीजमें शक्तिरूप (मूल-डाल-शाखा-पत्र-फल) से महान् वट वृक्ष रहता है उसी तरह पराभट्टारिका-रूप हृदयके बीज में अन्तर्भूत रहने वाला यह चराचर विश्व है।

---

३७. वही मात्र हो, उससे अधिक अन्य न हो, इस प्रकार 'तन्मात्र' शब्द से अवान्तर विशेष से रहित 'शब्दादि' कहे जाते हैं।

३८. जैसे वट (बरगद) के बीज में उस बीज के समुचित शरीर से ही अंकुर-पत्र-फल आदि रहते हैं इसी प्रकार नानाप्रकार के स्वल्पीकरण आदि विचित्रता से भरा हुआ यह विश्व हृदय बोज के अन्तस्तल में स्थित रहता है। जैसे मयूर आदि के अण्डस्थित रस में मयूर के सभी अवयवों में अनुप्रविष्ट छोटे बड़े पंखों से पूर्ण रेखा आदिके वैचित्र्य रूप शिल्प कला की कल्पना का कौशल रहता है, इसी तरह इसे भी समझना चाहिये।

इत्याम्नायनीत्या पराभट्टारिकारूपे हृदयबीजेऽन्तर्भूतमेतज्जगत् ।

उपर्युक्त आम्नाय की नीति से पराभट्टारिकारूप 'हृदय बीज' में अन्तर्भूत यह जगत् है। जैसे कि बीज के अन्दर वृक्ष रहती है।

कथं? यथो घटशरावादीनां मृद्विकाराणां पारमार्थिकं रूपं देव, यथा वा जलादिद्रवजातीनां विचार्यमाणं व्यवस्थितरूपं जलादिसामान्यमेव भवति, तथा पृथिव्यादिमायान्तानां तत्त्वानां सतत्त्वं मीमांस्यमानं सदित्येव भवेत् ।

शङ्का—पराभट्टारिकारूप बीज में यह विश्व कैसे रहता है ?

समाधान—जैसे मिट्टी से बने हुए घट, शराव (कोसा-करुआ) आदि मृद (मिट्टी) के विकारों का पारमार्थिक रूप मिट्टी ही है। अथवा जल आदि द्रव (तरल) जातीय पदार्थों का विचार करने पर 'जल' आदि सामान्य ही उनका व्यवस्थित (निश्चित रूप) होता है। उसी तरह पृथिवी से लेकर माया पर्यन्त तत्त्वों का सतत्त्व (तात्त्विकरूप से) विचार करने पर सत् ही निश्चित होता है।

अस्यापि पदस्य निरूप्यमाणं धात्वर्थव्यञ्जकं प्रत्ययांशं विसृज्य प्रकृतिमात्ररूपः सकार एवात्र शिष्यते, तदन्तर्गतमेकत्रिंशत्तत्त्वम्, ततः परं शुद्धविद्येश्वर-सदाशिव तत्त्वानिज्ञान-क्रियासाराणि शक्ति विशेषत्वात् औकारेऽभ्युपगमरूपेऽनुत्तरशक्तिमयेऽन्तर्भूतानि ।

इस 'सत्' पद में भी धात्वर्थे (धातु के अर्थ) को प्रकट करने वाले प्रत्ययांश (भवनार्थक 'अस्' १ धातु के प्रत्ययांश) को छोड़ दें तो प्रकृति मात्र 'सकार' अवशिष्ट रह जाता है, उसी 'सकार' के अन्तर्गत 'पृथिवी' से लेकर 'माया' तक इकतीस (३१) तत्त्व रहते हैं। उपर्युक्त ३१ तत्त्वों से परे शुद्ध विद्या तत्त्व, ईश्वर तत्त्व और सदाशिव तत्त्व शक्ति विशेष होने के कारण 'ज्ञान' और 'क्रिया' के सार रूप हैं। ये सब सार रूप तत्त्व ज्ञानमय अर्थात् अनुत्तर शक्तिमय 'औकार' में अन्तर्भूत हैं।

अतः परमूर्ध्वाधः सृष्टिरूपो विसर्जनीयः, एवं भूतस्य हृदयबीजस्य महामन्त्रात्मको विश्वमयो[३९] विश्वोत्तीर्णः परमशिव एवोदयविश्रान्तिस्थानत्वान्निज स्वभावः।

इससे परे ऊर्ध्व (ऊपर) और अधः (नीचे) सृष्टिरूप 'विसर्ग' है। अर्थात् 'सकार 'औकार' और 'विसर्ग' इन तीनों के मिलने पर हृदय बीज सौ होता है। इस प्रकार के हृदय बीज का महामन्त्रात्मक विश्वमय और विश्व से परे जो परमशिव है वहीं उदय और विश्राम का स्थान होने से अपने निजी स्वभाव (स्वरूप) में स्थित रहता है।

ईदृशं हृदयबीजं तत्त्वतो यो वेद समाविशति च स परमार्थतो[४०] दीक्षितः प्राणान् धारयन् लौकिकवद्वर्तमानो जीवनमुक्त एव भवति, देहपाते परमशिवभट्टारक एव भवति।

इस प्रकार के हृदय बीज को तत्त्वतः (यथार्थरूप से) जो जानता है। और उसमें अभिनिविष्ट हो जाता है वही परमार्थतः दीक्षित है और वही लौकिक मनुष्यों की तरह प्राणों को धारण करता हुआ वास्तव में जीवनमुक्त है और देहपात होने पर वह परमशिवभट्टारक ही हो जाता है।

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य क्षेमराज विरचिता पराप्रावेशिका समाप्ता

---

३९. 'विश्वमय और विश्व से परे' कहकर क्रमशः सर्वाकारत्व और निराकारत्व बताया गया है।

४०. तिल, घी की आहुति से रहित इन तत्त्वों का परिज्ञान ही तत्त्वतः (वस्तुतः) दीक्षा है यह अभिप्राय है। ऐसी दीक्षा जिसे प्राप्त हो उसे ही दीक्षित समझना चाहिये।

इति शम्